

## समकालीन हिन्दी कविता में सांप्रदायिकता-विरोध

डॉ. संगीता सक्सेना

समकालीन बहुलवादी भारतीय समाज के सामने सबसे बड़ा संकट है—सांप्रदायिकता। इसने भारतीय संवैधानिक मूल्यों को झकझोरने का प्रयास किया है। आजादी के साठ वर्षों में यह संकट गहरा ही हुआ है। क्षेत्र, जाति और धर्म ने अलगाव को बढ़ाया ही है और इनमें भी सर्वाधिक भयावह बिन्दु है—धर्म के नाम पर अमानवीय सांप्रदायिकता और उसको राजनैतिक प्रश्रय। धर्म और संप्रदाय के बुनियादी फर्क को स्वीकारते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं 'हम वामपंथी लोग यह सोचते थे कि धर्म माने या संप्रदायवाद। जबकि पाया यह जाता है कि गहरा धार्मिक उत्तना सांप्रदायिक नहीं होता, बल्कि बिल्कुल नहीं होता। सांप्रदायिक वे होते हैं, जिनमें धार्मिक आस्था नहीं होती।'<sup>1</sup> सांप्रदायिकता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए प्रो. विपिनचंद्र लिखते हैं 'इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म को मानने वालों के सांसारिक हित कभी एक जैसे होते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्व यह विश्वास है कि एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न हैं। सांप्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं।'<sup>2</sup> साहित्य ने अपने मोर्चे पर हमेशा सांप्रदायिकता का विरोध किया है और कविता भी इसका अपवाद नहीं है। वर्षों पहले निराला ने कहा था— धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ/लोहा बजा धर्म पर/सभ्यता के नाम पर खून की नदी बही।'<sup>3</sup> गणेशशंकर विद्यार्थी, जहूरबख, अवतार सिंह पाश और सफदरहाशमी ने इस विषैली सांप्रदायिकता का प्रतिकार करते हुए प्राणार्पण कर दिए। रचनाधर्मिता के प्रतिपक्ष में यह सांप्रदायिकता सदा विद्यमान रहती है और रचनाकार भी तमाम प्रतिरोधों के बावजूद इसे बेनकाब करने के अथक प्रयासों में लगा रहता है।

समकालीन हिंदी कविता में वर्तमान परिवेश में मौजूद सांप्रदायिकता के स्वरूप और संकट को स्वर दिया गया है। कात्यायनी अपनी इस कविता में सांप्रदायिकता के प्रश्न से दो-चार होती है—धर्म की की ग्लानि से क्षुब्ध/पवित्र क्रोध की आग में जल रही/परम पुनीता साधियों के उन्मत्त भाषणों/और शंकराचार्यों—महामंडलेश्वरों को नेपथ्य में/धकेल पंसारों से धर्मध्वजधारी बने/अतीत—गौरव के उद्धारकों की जादुई अपीलों के बीच/क्या स्थगित कर दी जाए कविता/कुछ समय के लिए?'<sup>4</sup> सांप्रदायिकता ने इसप्रकार अपनी मौजूदगी से समाज को आक्रांत किया है कि मनुष्य—मनुष्य के मध्य अंतराल बढ़ गया है। सांप्रदायिकता चाहे हिंदुओं के संदर्भ में हो या मुस्लिमों के संदर्भ में—आम आदमी का जीवन तो इस विष से फुंक चुका है—हसन नाम जान लेवा हो सकता है। अमृत—यह नाम भी निरापद नहीं रहा/बहुत सुरक्षित नहीं हैं आप/मंहगू नाम के साथ/बलवीरसिंह नाम के खतरे तमाम हैं। इस तंत्र में सिर्फ आपका नाम/हत्या का सबब हो सकता है।'<sup>5</sup>

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू—मुस्लिम दूध में शक्कर की तरह नहीं घुल सके और आद्यंत कायम रहने वाले इस अलगाव ने सांप्रदायिकता की जड़ें मजबूत ही की हैं। सांप्रदायिकता की अवधारणा—सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा भाषायी संदर्भों से जुड़ी हुई है। सामाजिक संरचना में हिन्दू—मुस्लिम—पार्थक्य अद्यतन बना हुआ है। आर्थिक आधार पर भी इन दोनों के मध्य अंतराल को दृष्टिगत रखते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं 'हिन्दू तथा मुसलमान मध्यवर्ग के

विकासक्रम में एक पीढ़ी से अधिक का अंतराल रहा है और इस अंतराल का प्रभाव कई दिशाओं में प्रतिबिंबित होता है—राजनीतिक—आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी। इस पिछड़ेपन के कारण ही मुसलमानों में डर की मनोवृत्ति पैदा हुई।'<sup>6</sup> तब तक वे कुछ पुराने हिसाब चुकता करेंगे। मुहम्मद गौरी और गजनवी से लेकर/बाबर—औरंगजेब तक/...../पर क्यों नहीं सोच पाते वे/कि समय का जन्म घड़ियों से नहीं हुआ है/क्यों नहीं सोच पाते कि/६ वंस करें भीषण भले ही कुछ समय के लिए/गढ़ता नहीं है कभी भी/इतिहास को उन्माद!'<sup>7</sup> समकालीन कविता ने 'पेड़' 'चिड़िया' और 'स्त्री' को ही अपना सरोकार नहीं बनाया है, बल्कि सांप्रदायिकता जैसे संवेदनशील मुद्दे को न केवल खूब पहचाना है, उसे उसके अमानवीय पहलू के साथ अनावृत्त भी किया है। गौर तलब बात यह है कि यह सब इस कविता ने बिना किसी भाषणबाजी के, संयत ढंग से किया है, कुछ—एक शब्द, कुछ—एक पंक्तियों ही पाठकीय मानस को संस्पर्श कर देती हैं और वह उद्वेलित हो उठता है। सांप्रदायिकता किन को शिकार बनाती हैं और किस प्रकार के तामस को उत्पन्न करती हैं, राजेश जोशी की कविता 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' इसको पूरे यथार्थ के साथ व्यक्त करती है—टोल वाली मस्जिद के पास पहुंचे ही थे हम/कि शुरु हो गई पत्थरों की बरसात/...../वहां इतने कत्ल हुए/वहां इतनी अस्मत्तें लुटीं/कि उस मोहल्ले के सारे मकान जला दिए गए/...../बच्चे सब मार डाले गए/फूल मार डाले गए/शब्द मार डाले गए कि सर्राफा बच गया/छगनलाल सेठ के मकान पर खरोंच भी नहीं आयी/फारूख भाई का पेट्रोल पंप नहीं जला/कि मोचीपुरे की पट्टी साफ हो गई/...../हम एक ही दरवाजे से आए थे अंदर तकरीबन साथ—साथ उसी बेंच पर बैठे थे लेकिन साथ—साथ नहीं/तुम एक छोर पर थे रशीद, इदरीस के साथ, और मैं था/दूसरे छोर पर फुलवानी के साथ/...../हम दो लंगोटिया या र/शहर के दो विपरीत ध्रुवों की ओर चले गए/दो विपरीत अंधेरों की ओर। डॉ. मैनेजर पांडेय के शब्दों में 'ऐसे समय में कविता के प्रभाव के बारे में बहुत आश्वस्त न होने के बावजूद नई पीढ़ी के कवि सांप्रदायिकता के आतंक के विरुद्ध कविताएं लिख रहे थे—अपनी मनु यता का प्रभाव देने के लिए और समाज में मनुष्यता की रक्षा के लिए भी।'<sup>8</sup> बोधिसत्व की 'पागलदास', विमल कुमार की 'पुजारी लालदास' तथा अनिल कुमार सिंह की 'अयोध्या 1991' जैसी कविताएं अपने सरोकार को वहन करती हैं। इतना ही नहीं प्रसिद्ध उर्दू शायर कैफ़ी आजमी भी अपने अनुभव को वाणी देने से पीछे नहीं हटे।

उनकी कविता 'दूसरा बनवास' में राम अपनी पीड़ा व्यक्त करते हैं—'प्यार की कहकशां लेती थी अंगड़ाई जहां/मोड़ उसी रहगुजर में आए/धर्म क्या उनका/क्या जात है यह जानता कौन/...../तुमने बाबर की तरफ फेंके थे सारे पत्थर/हैं मेरे सर की खता जख्म जो सर में आए।' <sup>9</sup> सांप्रदायिकता—विरोध का प्रयास समकालीन कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। वह इंसानियत को उभारने की पूरी कोशिश में लगी हुई है—कभी उसमें आक्रोश का स्वर है, तो कभी प्रश्नाकुलता है, कभी विनय की शांत मुद्रा भी। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं? 'तक नहीं होता आस्था के प्रश्न पर/...../आखें नहीं होती आस्था की/कुछ भी कर सकती है/सड़कों पर नाच सकती हैं डायनों सी/खप्पर में पीती हुई बच्चों का खून/विकट रूप धर/बस्तियों को राख करती/.....आस्था केवल बहुमत का अधिकार होती है/..... रहना चाहते हो यदि इस मुल्क में/तो आस्थावान बनो/महान पूर्वजों

के वारिस/महान बनो' (कात्यायनी) "तथा 'यह जो सड़क पर खून बिखरा पड़ा है/इसे सूँघकर देखो/और इसे पहचानने की कोशिश करो/यह हिन्दू का है या मुसलमान का/किसी सिख का या ईसाई का .....क्या तुम मुझे यह सब बता सकते हो?/इन रक्त सने कपड़ों, फटे जूतों, टूटी साइकिलों, किताबों और खिलौनों की कौम क्या है?' (कुमार विकल) <sup>12</sup> तथा 'तुम्हारे लिए पड़ा है पूरा जमाना, बस इसी वक्त/थोड़ी सी मोहलत दे दो खुदा के वास्ते/यह मुददा मत उठाओ/ कि राम का मंदिर कहाँ बनना है।' (सुदीप बनर्जी) <sup>13</sup> अथवा—'नहीं चाहिए मुझे कोई देश/कोई धर्मस्थल/किसी धर्म का कोई पवित्र परिवेश/मुझे लौटा दो बस/इस विशाल पृथ्वी पर/मैंने जो बसाया था/एक छोटा-सा स्वप्न घर' (कुमार विकल) <sup>14</sup> समकालीन हिन्दी कविता में सांप्रदायिकता के संकट और विरोध की अभिव्यक्ति में अनिल कुमार सिंह की 'अयोध्या 1991', कुमार अंबुज की 'तुम्हारी जाति क्या है' तथा 'खोजो' देवीप्रसाद मिश्र की 'पवित्र व्याधि' तथा 'हत्या का कारण', कात्यायनी की वे नहीं सोचते', शैलेन्द्र जैदी की 'सूरज सलीब पर', रामदरश मिश्र की 'दंगा' कुमार विकल की 'पहचान' विनय दुबे की 'अयोध्या', सुदीप बनर्जी की 'एक सुराख से देखी हुई दुनिया' तथा 'डर लगता है राम' स्वप्निल श्रीवास्तव की 'ईश्वर का जन्मस्थान' जैसी कविताएं उल्लेखनीय हैं। समकालीन कवियों की इस पीढ़ी के वरिष्ठ कवि नरेश मेहता की मृत्युपरांत प्रकाशित कविता में सांप्रदायिकता की अवधारणा, संकट, परिणति तथा विरोध-समूचे आयामों का संस्पर्श है। पूरी धरती रक्त-स्नात है। चिपचिपा रही है। युद्धों, दंगे-फसादों, भाड्यंत्रों और हत्याओं में बहे/मानवीय रक्त से ही नहीं/बल्कि धर्म और दीन के नाम पर/...../रक्त की बाढ़ आ गई है/रक्त की इस बाढ़ में चलकर/कौन-सी अर्थ-यात्रा करना चाहते हो?...../क्या है कोई प्रभु का ऐसा द्वार/जिस पर तुम खून से सने हाथों से दस्तक दे सकते हो? कभी तुमने वह आर्ष वाणी सुनी है कि तंग है प्रभु का द्वार! तब तुम क्या इस हिंसा-व्यक्तित्व से उस द्वार में प्रविष्ट हो सकोगे? <sup>15</sup> राजेश जोशी की कविता 'मैं, सलीम और उनसठ का साल' में तो वैमनस्य का अंधेरा दो लंगोटिया यारों की दोस्ती को लील गया है लेकिन विनोद भारद्वाज की कविता 'सपने में एक दोस्त' में दो मित्रों के बीच जुड़ा दोस्ती का तार सांप्रदायिकता की हवा से थरथरा रहा है, वे उस तार का सिरा पकड़े रखना चाहते हैं, पर वह छूटा सा जा रहा है। एक बेहद संवेदनशील मुद्दे को उतनी ही संवेदना से व्यक्त करते हुए विनोद लिखते हैं— 'उससे भी अधिक याद आती है/मोहम्मद अयूब अंजुम 'मधु' की/जो इस बात को लेकर/बड़ा सजग था कि/उसका हमेशा पूरा नाम लिया जाये/...../लेकिन हुआ कुछ इस तरह से/6 दिसंबर 1992 की रात को/मुझे मोहम्मद अयूब अंजुम 'मधु' दिखाई दिया/...../शाम का अंधेरा था/अचानक उसने टाई उतार कर/फेंक दी/कपड़े और चेहरा नोचने लगा/रूआंसा हो गया/डर गया/लिपट गया/बोला— बहुत दिनों बाद मिले/दोस्त/आसमान महल में आग लग गई है/मैं अब हकलाता

हूँ/अपना पूरा नाम लेते हुए/बहुत दिनों बाद क्यों मिले/दोस्त' <sup>16</sup> कार्ल मार्क्स ने धर्म को जनता की अफीम इसी अर्थ में कहा था कि वह आदमी को अपनी तकलीफें भूलने या उन्हें सहन करने की क्षमता देता है। 'धर्म सांप्रदायिक तब बनता है, जब धर्म सत्ता के रूप में काम करने लगता है और इस प्रक्रिया में दूसरे धर्मों के साथ उसकी होड़ चलती है।' <sup>17</sup> 'खुदाई में वे दूढ़ रहे हैं/इतिहास की प्राचीन अस्थियां/..... / मेरी सत्ता के समीप है/ईश्वर का जन्म स्थल/कहते हैं राजनेता/जनता को ठीकठाक पता नहीं/कहां है ईश्वर का जन्म स्थान/वह पुरातत्ववेत्ता और राजनेता की राय के बीच दिग्भ्रमित है/...../अफीम ईश्वर को समझने में/सबसे ज्यादा मदद करता है/...../चालाक राजनीतिज्ञ जानता है/जिसके पास है अफीम जैसा/अमोघ अस्त्र, उसका राजनैतिक भविष्य उज्ज्वल है।' <sup>18</sup> इस कविता पर डॉ. मैनेजर पांडेय की एक विस्तृत टिप्पणी का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा—'(ये) कविताएं अपने समय और समाज की, उसमें सांप्रदायिकता के प्रभाव और प्रभुत्व की, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के छल-छद्म की, आस्था की राजनीति और धर्म के उन्माद की गवाही देती है। इनकी भाषा में एक सच्चे गवाह की भाषा की आवेगमयता है। ये कविताएं यह बोध जगाती हैं कि सांप्रदायिकता की घेराबंदी में पड़ी सभ्यता में मनुष्य की क्या दशा होती है। ये अपने समय और समाज में दृढ़ता से खड़ी हैं, इनमें सांप्रदायिकता के आतंक की अभिव्यक्ति है और उससे मुक्ति की चिंता भी।' <sup>19</sup> राजमोहन गांधी ने लिखा है कि 'शायद एक ही विषय या वस्तु है, जिस पर किसी भी प्रकार की शक्ति का कोई असर नहीं हो सकता:अतीत। ..... शायद ईश्वर भी अतीत को बदलने में नाकामयाब हो लेकिन कोशिश करने की आजादी उसने दी है।.....। जलाने पर अतीत जलता नहीं है, जलने-मरने वाला वर्तमान और भविष्य है। अतीत तो फरार हो गया है।' <sup>20</sup> समकालीन कवि को इसकी भी चिंता है— 'एक और बच्चा मर गया, गिनती में सुध ार हुआ/...../थोड़ी देर के लिए ही सही, बनी रहने दो। इस धरती को इन बच्चों की नसीब की गंद' (सुदीप बनर्जी) <sup>21</sup> तथा —उमस बता रही है युद्ध अभी संभव है/जिन्दा है शस्त्रों के व्यापारी/. ...../ बच्चों की आंखों से गायब हो रहे हैं स्वप्न/वे भूल रहे हैं/फूलों/तितलियों और रंगों के नाम' (कुमार अंबुज) <sup>22</sup> तथा 'आतताइयों सुनो ! झूठ और मक्कारी से भरी/तुम्हारी इस दुनिया में/अभी भी हमारे हाथों में है समय का दोना/जिसमें अभी-अभी दुहे गण/झागदार दूध-सा भरा है — सच /जहां फैला है उदास पीले रंग में/एक निराश कवि के सपनों का जंगल/वहां एक कोयल कूकना ही चाहती है।' <sup>23</sup> तमाम घृणा और वैमनस्य के विष के बावजूद समकालीन कविता में सांप्रदायिकता के विरुद्ध जो अनवरत संघर्ष जारी है, वह आश्वस्त कर देने वाला है और यही उसकी उपलब्धि भी है कि उसने अपने समय के इस महत्वपूर्ण और संवेदनशील सरोकार को न केवल प्रस्तुत किया है बल्कि मनुष्यता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को भी सशक्त ढंग से उकेरा है।

### संदर्भ—संकेत

1. सांप्रदायिकता का सवाल—संपादक जगदीश्वर पृ. 40-41
2. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष—विपिनचंद्र और अन्य, पृ. 368-369
3. राग विराग—संपादक—डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 141
4. इस पौरुषपूर्ण समय में—कात्यायनी, पृ. भठ 115
5. प्रार्थना के शिल्प में नहीं—देवी प्रसाद मिश्र, पृ. भठ-106
6. गंगा—संयुक्तांक (1986) पृ. 23
7. इस पौरुषपूर्ण समय में—पृ. 110
8. एक दिन बोलेंगे पेड़ — राजेश जोशी, पृ. 59
9. इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी (2002) पृ. 6
10. इंडिया टुडे —साहित्य वार्षिकी (1993) पृ. 140
11. इस पौरुषपूर्ण समय में—पृ. (112-113)
12. इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी (1996) पृ. भठ 153

13. कविता तीरे—डॉ. कमलाप्रसाद, पृ. 138
14. समकालीन हिंदी कविता—ए. अरविदाक्षन, पृ. 67
15. वागर्थ—नवंबर 2001 (अंक 77), पृ. 10
16. इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी (1993) पृ. 153
17. अयोध्या और उससे—संपादक राजकिशोर, आगे पृ. 104
18. इंडिया टुडे—साहित्य वार्षिकी (1992) पृ. 139
19. इंडिया टुडे —साहित्य वार्षिकी (2002) पृ. 6
20. अयोध्या और उससे आगे—संपादक राजकिशोर पृ. 27
21. कविता तीरे—डॉ. कमलाप्रसाद, पृ. 139
22. समकालीन कविता की पहचान—वीरेंद्र मोहन, पृ. 16
23. समकालीन कविता की पहचान—वीरेंद्र मोहन, पृ. 80